अकबर की धार्मिक नीति
(AKBAR'S RELIGIOUS POLICY)

अकबर की उदार पृष्ठभूमि—बाबर और हुमायूँ आस्थावान सुन्नी मुसलमान थे। लेकिन उनमें धर्मांधता या संकीर्णता नहीं थी। उनकी धार्मिक आस्था में व्यावहारिक पक्ष का भी प्रभाव था। बाबर ने समरकन्द प्राप्त करने के लिये फारस के शिया शासक से सहायता प्राप्त करने में या शिया रीति-रिवाजों को अपनाने में कोई हानि नहीं समझी। भारत में उसने जिहाद का उपयोग सैनिक आवश्यकता के लिये किया था। हुमायूँ ने भी फारस में रहकर राजनीतिक कारणों से शिया धर्म स्वीकार करने में लचीला दृष्टिकोण अपनाया था। उसने धर्म के नाम पर हिन्दुओं पर अत्याचार नहीं किया था। अकबर का बाल्यकाल अधिक उदार वातावरण में बीता था। उसकी माता हमीदाबानू शिया थी। हमीदा के पिता शेख अकबर उदार विचारों के विद्वान थे। अकबर का जन्म एक राजपूत राजा के महल में हुआ था जहाँ संकट के समय उसके माता-पिता को सहायता प्राप्त हुई थी। अकबर का संरक्षक बैरमखाँ शिया था और उसका भी उदार प्रभाव अकबर पर पड़ा था। बैरमखाँ ने अकबर का शिक्षक प्रसिद्ध विद्वान अब्दुल लतीफ को नियुक्त किया था जो अपने उदार विचारों के लिये जाना जाता था। उसने अकबर को 'सुलहकुल' का पाठ पढ़ाया। इस प्रकार किशोरावस्था में अकबर पर उदारवादी धार्मिक विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा था।

अकबर का धार्मिक चिंतन एवं जिज्ञासा—अन्य कारण भी थे जिन्होंने अकबर की धार्मिक निष्ठा को उदारमार्गी बनाने में सहायता की। बाल्यकाल से ही उसका सत्संग मुगल, तुर्क, अफगान और ईरानी अमीरों से था, इससे उसके दृष्टिकोण में संकीर्णता नहीं आने पाई थी। अकबर किशोरावस्था से ही शेखों और संतों से प्राय: मिलता था और उनके प्रति श्रद्धा रखता था। अपने पिता हुमायूँ से उसे दार्शनिक उदारता, संस्कृति एवं दानशीलता प्राप्त हुई थी। वह स्वभाव से जिज्ञासु था और एकान्त में आध्यात्मिक समस्याओं पर चिन्तन करता था। वह धार्मिक प्रकृति का था और धर्म को समझने के लिये सदैव तत्पर रहता था। एक सच्चे मुस्लिम की भाँति उसकी इस्लाम में गहरी श्रद्धा थी। राज्य के प्रमुख काजी अब्दुल नबी का, जो सद्र-उस-सुदूर भी था, वह अत्यधिक सम्मान करता था और एक बार तो अकबर ने उनकी जूतियाँ उठायीं थीं। अकबर पर सूफीवाद का गहरा प्रभाव था और युवावस्था से प्राय: वह शेख मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह शरीफ की जियारत करता था। उस पर तत्कालीन सूफी और भक्ति आन्दोलनों का भी प्रभाव था। 16वीं शताब्दी धार्मिक जागृति का काल था और वाह्य आडम्बरों के स्थान पर आध्यात्मिक पक्ष, सहिष्णुता का प्रचार हो रहा था। अकबर की इस प्रगतिशील सहिष्णुता के प्रति सहानुभूति थी। शेख मुबारक और उसके पुत्रों—फैजी तथा अबुलफजल की धार्मिक उदारता का भी उस पर प्रभाव पड़ा था। इसी प्रकार राजपूत विवाहों का भी उस पर प्रभाव पड़ा था और उसकी राजपूत नीति भी इसी उदारता से प्रेरित थी।

अकबर में सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति थी और धर्म के 'सत्य' को जानने की जिज्ञासा उसमें बचपन से थी। उसका धर्म सुन्नी था, अत: वह सुन्नी नियमों का पूर्ण निष्ठा से पालन करता था। वह प्रार्थना, ध्यान, समाधि, नाम-जप आदि में विश्वास रखता था तथा पालन करता था। **बदायूँनी** लिखता है कि सम्राट कभी-कभी रात-रात भर 'या हू' या हादी रटता रहता था।

(अ) अकबर की विशाल हृदयता तथा मानवीय दृष्टिकोण की पहली अभिव्यक्ति 1562 ई. में हुई जब वह केवल बीस वर्ष का नवयुवक था। उसने आज्ञा जारी करके युद्ध-बन्दियों को गुलाम बनाने की प्रथा पर रोक लगा दी। अभी तक यह प्रथा थी कि युद्ध में बन्दी बनाये गये व्यक्तियों को गुलाम बनाया जाता था तथा बलपूर्वक उनका धर्म परिवर्तन किया जाता था। इससे अकबर की उदारता तथा मानवीय संवेदनशीलता प्रकट होती है। निश्चय ही इससे हिन्दुओं में उसकी लोकप्रियता स्थापित हुई होगी।

(ब) 1563 ई. में उसने साम्राज्य के विभिन्न तीर्थस्थानों में तीर्थयात्रियों से लिये जाने वाले कर की वसूली बंद कर दी। अबुलफजल के अनुसार इस कर से प्रतिवर्ष एक करोड़ की आय होती थी। यह कार्य उसके आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा धार्मिक चिन्तन को प्रकट करता है। अबुलफजल के अनुसार सम्राट ने अनुभव किया कि ईश्वरोपासना के लिये जाने वाले तीर्थयात्रियों से धन वसूलना ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कार्य था,

भले ही यह ईश्वरोपासना की विधि गलत और भ्रमपूर्ण क्यों न हो। इस कार्य से व्यावहारिक रूप से धार्मिक स्वतंत्रता स्थापित हो गई थी।

(स) 1564 ई. में अकबर ने जजिया कर हटा दिया जो उन सभी पर लगता था जो इस्लाम के अनुयायी नहीं थे। हिन्दू और अन्य गैर-मुस्लिम इस कर से घृणा करते थे क्योंकि यह उनकी हीन अवस्था को प्रकट करता था। अकबर का यह कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण था क्योंकि इससे उसकी समस्त प्रजा को धार्मिक स्वतन्त्रता तथा समानता प्राप्त हो गई और राज्य के स्वरूप में आधारभूत परिवर्तन हो गया।

द्वितीय चरण : इबादतखाना तथा अन्य धर्मों का प्रभाव (1575-1579 ई.)

1575 ई. के बाद अकबर के धार्मिक विचारों में एक विशेष परिवर्तन आया। 1565 ई. से 1575 ई. के दस वर्षों में अकबर को अनेक युद्धों में तथा विद्रोहों के दमन में आश्चर्यजनक सफलतायें मिलीं। इससे उसे विश्वास हो गया कि उस पर विशेष दैवी अनुकम्पा थी। उसकी रहस्यवादी और सूफी भावनाओं पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा और धर्म में उसकी जिज्ञासा बढ़ गयी। **बदायूँनी** लिखता है कि अब वह 'ईश्वर के वचनों' तथा 'पैगम्बर की शिक्षाओं' पर अधिकांश समय मनन करता था और दर्शन, आध्यात्म और फिकह में उसे अत्यधिक रुचि हो गई थी। इसके लिये उसने उस समय के प्रसिद्ध मुस्लिम विद्वानों को धार्मिक विचारगोष्ठियों में निमंत्रित किया।

(1) 1575 ई. में अकबर ने इबादतखाना का निर्माण कराया। इसमें आलिमों, फकीरों तथा सूफियों के सर्वोष्कृष्ट विद्वानों को एकत्रित किया गया। प्रत्येक वृहस्पतिवार की रात में अकबर उनके प्रवचन सुनता था तथा धार्मिक एवं आध्यात्मिक विषयों पर वार्तालाप करता था। वह बहुधा कहता था, "ऐ बुद्धिमान मुल्लाओ, मेरा प्रमुख उद्देश्य है सत्य की खोज, सत्य धर्म के सिद्धान्त खोजना तथा प्रकट करना और उनकी दैवी व्युत्पत्ति का पता लगाना। आपको सत्य को छिपाना नहीं चाहिए और न ही अपनी मानवीय कमजोरियों के प्रभाववश ऐसी कोई बात कहनी चाहिए जो सत्य के विपरीत हो। अगर आप ऐसा करेंगे तो आप अपनी कर्तव्यशून्यता के परिणामों के लिये ईश्वर के समक्ष स्वयं उत्तरदायी होंगे।"

प्रारम्भ में इबादतखाने में केवल सुन्नी विद्वानों को ही स्थान दिया गया था। इसमें मख्दूमुल्मुल्क शेख अब्दुन्नवी, काजी याकूब, मुल्ला बदायूँनी, हाजी इब्राहिम, शेख मुबारक, अबुल फैजी, अबुलफजल, नकीबखाँ प्रमुख थे। वाद-विवाद में अनेक गम्भीर विषयों पर बहस होती थी जो कुरान, हदीस और इस्लाम के आधारभूत सिद्धान्तों से सम्बन्धित थे। इन विषयों पर भी विद्वानों में मतभेद थे और उनके झगड़े इतने बढ़ जाते थे कि सम्राट को स्वयं हस्तक्षेप करना पड़ता था। शीघ्र ही अकबर को इन विद्वानों की असहिष्णुता तथा अज्ञानता का ज्ञान हो गया। वे एक-दूसरे पर दोषारोपण करते थे इससे अकबर निराश हो गया। शिया-सुन्नियों के व्यक्तिगत दोषारोपण से वातावरण कटु होने लगता था। इससे अकबर अत्यन्त खिन्न हुआ और उलेमा के प्रति उसकी श्रद्धा कम होने लगी। इस वाद-विवाद का एक परिणाम यह भी हुआ कि अकबर को विश्वास हो गया कि सभी धर्मों में ज्ञानी पुरुष हैं और सत्य पर किसी एक धर्म का एकाधिकार नहीं है। अत: उसने 1578 ई. में इबादतखाने के द्वार सभी धर्मों के लिये खोल दिये। अब इबादतखाने में ईसाई, पारसी, हिन्दू, जैन धर्मों के विद्वानों को, यहाँ तक कि नास्तिकों को भी निमंत्रित किया गया। इससे वाद-विवाद का आधार विस्तृत हुआ।

(2) **महजर की घोषणा**—1573 ई. में शेख मुबारक ने अकबर से प्रार्थना की कि जिस प्रकार उसने राजनीतिक नेतृत्व प्रदान किया है उसी प्रकार वह प्रजा को धार्मिक नेतृत्व प्रदान करे। अकबर ने इसे तुरन्त स्वीकार नहीं किया था। लेकिन इबादतखाने के विवादों ने स्पष्ट कर दिया था कि मुस्लिम विद्वानों में अनेक विषयों पर मतैक्य नहीं है अत: अकबर का प्रयास था कि जहाँ तक सम्भव हो एकता स्थापित की जाये। 1579 ई. में अकबर को मुख्य सद्र अब्दुन्नवी की अनेक अनियमिताओं, भ्रष्टाचार, अत्याचारों के बारे में ज्ञात हुआ। उसने भ्रष्ट उपायों से असीमित धन एकत्रित कर लिया था। मदद-ए-माश भूमि प्रदान करने में वह भ्रष्ट और पक्षपातपूर्ण था। वह धर्मांध था तथा शियाओं, हिन्दुओं पर अत्याचार करता था। अकबर ने उसके अधिकारों को कम कर दिया और प्रान्तों में सद्र नियुक्त कर दिये। अंत में उसने अब्दुन्नवी को पद से हटा दिया और उसे हज जाने को बाध्य किया। इसी समय (1579-80) पूरब में बिहार-बंगाल के प्रमुख मुस्लिम अधिकारियों का विद्रोह हो गया जो अकबर की धार्मिक उदारता की नीति के विरोधी थे और अनुभव करते थे कि अकबर की नीतियों से इस्लाम

खतरे में है। जौनपुर के काजी मुल्ला अहमद याज्दी ने फतवा जारी करके अकबर के विरुद्ध विद्रोह करना एक धार्मिक कर्तव्य घोषित कर दिया है। अकबर ने इन विद्रोहों का दमन किया।

अकबर मुल्लाओं के विरुद्ध अपनी स्थिति को मजबूत बनाना चाहता था। वह इस्लाम के दायरे के अन्दर ही रहकर साम्राज्य को नवीन आधार देना चाहता था और मुल्लाओं के अधिकारों को कम करना चाहता था। वास्तव में, वह इमाम-ए-आदिल की स्थिति प्राप्त करना चाहता था। उलेमा को अपनी शक्ति के अन्तर्गत लाने के लिये उसने 26 जून, 1579 ई. को फतेहपुर सीकरी की जामा मस्जिद में खुतवा पढ़ने का साहस दिखाया। धार्मिक सत्ता को प्राप्त करने के लिये उसका दूसरा कार्य महजर नामक दस्तावेज जारी करना था। महजर जारी करने की प्रेरणा उसे शेख मुबारक, फैजी और अबुलफजल ने दी थी। 2 सितम्बर, 1579 ई. को महजर जारी किया गया जिस पर सभी प्रसिद्ध मुस्लिम विद्वानों के हस्ताक्षर थे।

महजर में अकबर को यह अधिकार दिया गया कि अगर किसी विषय पर उलेमा में मतभेद हो और वे परस्पर विरोधी मत व्यक्त करें तो वह साम्राज्य के हितों को ध्यान में रखते हुए जिस मत को सर्वोत्तम समझे, मान्यता दे सकता है। अकबर को रियाया के कल्याण करने के लिए कोई भी फरमान जारी करने का भी अधिकार दिया गया बशर्ते वह कुरान के कानूनों के अनुसार हो। अकबर को सुल्तान-ए-आदिल स्वीकार किया गया जिससे उसकी स्थिति जो कुरान के व्याख्याकार थे, उनसे श्रेष्ठ हो गई।

विभिन्न धर्मों के सम्पर्क में आने से अकबर को विश्वास हो गया था कि सभी धर्मों में अच्छी बातें हैं जो वाद-विवाद की उत्तेजना में छिप जाती है। उसका विश्वास था कि अगर सभी धर्मों की अच्छी बातों को स्वीकार कर लिया जाये तो उससे सौहार्द्र और शान्ति स्थापित होगी। वह जानता था कि हिन्दुस्तान जैसे देश में जहाँ अनेक धर्म तथा सम्प्रदाय हैं, सर्वधर्म समभाव व सम्मान आवश्यक है। उसे यह भी स्पष्ट हो गया कि ईश्वर एक है और विभिन्न धर्म उस तक जाने के लिये पृथक्-पृथक् मार्ग है। अत: उनमें संघर्ष की कोई आवश्यकता नहीं है। **बदायूँनी** लिखता है कि अकबर को विश्वास हो गया कि सभी धर्मों में विवेकशील व्यक्ति हैं। अत: सत्य केवल एक ही धर्म तक सीमित नहीं रह सकता। वह आगे लिखता है कि इसीलिये अकबर इस्लाम से दूर हटने लगा। लेकिन हमें ध्यान रखना चाहिए कि **बदायूँनी** कट्टर आलिम था और अकबर की उदार नीति का कटु आलोचक था।

तीसरा चरण (1579 ई. से 1605 ई.) : दीन-ए-इलाही

1582 ई. में अकबर ने इबादतखाना बन्द कर दिया। इसका मुख्य कारण यह था कि इसमें जो वाद-विवाद होते थे उनसे कटुता उत्पन्न होती थी। अकबर का उद्देश्य था कि विभिन्न धर्मों के विद्वान एक-दूसरे के धर्मों को समझें जिससे सद्भावना तथा सौहार्द्र उत्पन्न हो। उसका यह उद्देश्य पूरा नहीं हुआ लेकिन इसके बाद भी उसने अपने प्रयत्नों को जारी रखा। उसने धर्मांधता को अस्वीकार कर दिया और तर्क को ही धर्म का मूलाधार बताया। उस पर सूफियों के सर्वेश्वरवाद तथा मानवीय दृष्टिकोण का गहरा प्रभाव था। 1582 ई. में काबुल अभियान से लौटने के बाद उसने दीन-ए-इलाही की योजना अपने अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत की।

दीन-ए-इलाही एक धर्म नहीं था। **बदायूँनी** के अतिशयोक्तिपूर्ण तथा पूर्वाग्रह से पूर्ण वक्तव्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि अकबर नवीन धर्म चलाना चाहता था। लेकिन इसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह उल्लेखनीय है कि अबुलफजल और बदायूँनी ने 'तौहीदे-इलाही' शब्दों का प्रयोग किया है जिसका अर्थ होता है 'एकेश्वरवाद'। अत: दीन-ए-इलाही एक प्रकार से केवल सूफी विचारधारा मात्र थी जिसे किसी भी धर्म के अनुयायी स्वीकार कर सकते थे। इसके सिद्धान्तों से भी यह प्रकट होता है कि यह सब धर्मों का सार था, स्वयं धर्म नहीं।[1] ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. दीक्षा अकबर द्वारा दी जाती थी। दीक्षा के लिये रविवार का दिन निश्चित था।

2. दीक्षार्थी सम्राट के समक्ष उपस्थित होता था और सम्राट के चरणों पर अपना सिर रखता था। यह इस बात का प्रतीक था कि दीक्षार्थी ने अपने अहंकार तथा स्वार्थ को त्याग कर ईश्वरोपासना में ध्यान केन्द्रित किया है।

3. सम्राट उसे उठाता, उसके सिर पर पगड़ी रखता और उसे 'शिस्त (मंत्र)' प्रदान करता जिस पर ईश्वर का नाम अल्ला हो अकबर (अल्लाह महान है) खुदा रहता। यह इस बात का प्रतीक था कि सम्राट ने उसे अपना शिष्य बनाना स्वीकार कर लिया है। शिस्त प्रदान करना दीक्षा का प्रतीक था।

4. दीक्षार्थी एकेश्वरवाद में विश्वास करता था तथा अकबर को आध्यात्मिक गुरु स्वीकार करता था।

5. पारस्परिक अभिवादन के लिये 'अल्लाहो अकबर' और 'जल्ले जलालेहु' का व्यवहार किया जाता था।

6. प्रत्येक शिष्य को, जहाँ तक सम्भव हो, माँसाहार त्यागना पड़ता था। अगर यह त्याग सम्भव न हो तो कम से कम उस माह में माँस खाना निषिद्ध था जिसमें उसका जन्म हुआ हो।

7. प्रत्येक शिष्य को अपने जन्म दिवस पर प्रीतिभोज देना तथा दान करना आवश्यक था जिससे उसका परलोक सुधरे।

8. दीन-ए-इलाही संघ के प्रत्येक सदस्य को आवश्यक था कि मृत्यु के बाद दिये जाने वाले भोज को वह अपने जीवन-काल में दे।

9. संघ को सदस्यों के लिये कसाइयों, मछुवारों, चिड़ीमारों के बर्तनों का प्रयोग निषिद्ध था।

10. उनको उनकी इच्छानुसार मृत्यु के बाद जलाया या दफन किया जा सकता था।

11. वृद्धा या अल्पवयस्क कन्याओं के साथ विवाह करना निषिद्ध था। इसी प्रकार के सहवास के लिये भी निषेध था।

12. वे क्रोध को त्यागें, क्षमा को अपनायें, मृदु वचनों का प्रयोग करें, सद्व्यवहार करें।

13. कर्म के प्रभाव पर विचार करें, भक्ति ज्ञान में वृद्धि करें, शरीर को स्वच्छ, निरोग रखें, आत्मा को भगवत प्रेम और भगवत प्राप्ति में लगायें।

सम्राट स्वयं शिष्यों का चयन करता था। अबुल फजल, जो दीन-ए-इलाही का पुरोहित था तथा दीक्षार्थी को सम्राट के समक्ष प्रस्तुत करता था, लिखता है कि सम्राट शिष्य बनाने में प्राय: उदासीन रहता था और अति आग्रह पर प्रार्थना स्वीकार करता था। दीन-ए-इलाही में कोई पवित्र ग्रंथ या पुरोहित वर्ग नहीं था। इसमें कोई पूजागृह या कर्मकाण्ड या पूजा पद्धति नहीं थी। **बदायूँनी** के अनुसार दीन-ए-इलाही मत के अनुयायी चार वर्गों में विभाजित थे जो उनके त्याग पर आधारित था। उन्हें सम्राट की सेवा के लिये धन-सम्पत्ति, मान-सम्मान, जीवन और धर्म का बलिदान करना पड़ता था। इनमें से एक का त्याग करने वाला पहला पद, दो त्याग करने वाला दूसरा पद, तीन और चारों को त्याग करने वाले तीन या चार पद वाले होते थे। धर्म त्याग का अर्थ संकीर्णता का त्याग होता था। ये चारों स्थितियाँ सूफियों के सोपानों के समान थीं। अकबर ने दीन-ए-इलाही का प्रचार नहीं किया और न इसके लिये किसी प्रकार का प्रलोभन दिया।

आलोचना—दीन-ए-इलाही की स्थापना में अकबर का क्या उद्देश्य था ? इस बारे में इतिहासकारों ने भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये हैं। **बदायूँनी** अकबर को काफिर कहता है और दीन-ए-इलाही को धर्म मानता है। वह यह भी कहता है कि इस नवीन धर्म को स्थापित कर उसने मुसलमानों तथा इस्लाम का अपमान किया था। वह आरोप लगाता है कि अकबर ने पैगम्बर होने का दावा किया था। **वूल्जले हेग, लेनपूल, मैलेसन** भी इसे धर्म मानते हैं। **स्मिथ** का कहना है कि "दीन-ए-इलाही अकबर की मूर्खता का प्रतीक था, न कि बुद्धिमानी का।"[1]

हेग ने भी यही मत व्यक्त करते हुए लिखा है, "दीन-ए-इलाही वास्तव में लज्जाजनक असफलता रही और वह हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई किसी को पसन्द नहीं आया।" अब अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि दीन-इलाही धर्म नहीं था और न अकबर पैगम्बर होने का दावा करता था। धार्मिक दृष्टि से दीन-ए-इलाही सूफियों के समान उदार मानवतावादी दृष्टिकोण को स्थापित करता था। दूसरी ओर यह एक सामाजिक व्यवस्था थी जिसमें एक समान दृष्टिकोण वाले व्यक्ति एक-दूसरे से सहयोग कर सकते थे।

डॉ. ए. एल श्रीवास्तव लिखते हैं कि "दीन-ए-इलाही की स्थापना में अकबर का महान राजनीतिक उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा वह हिन्दू और मुसलमान धर्मों को मिलाकर मुगल साम्राज्य में राजनीतिक एकता कायम कर सके। दीन-ए-इलाही के प्रवर्तक के रूप में उसने जो किया, वह उसकी सार्वजनिक सहिष्णुता की नीति का परिणाम था और यही उसके राष्ट्रीय आदर्शवाद का प्रमाण भी है।"